THE ECONOMIC TIMES

Date: 22-12-16

Low rates and few exemptions welcome

A recent memorandum submitted to government by industry lobby Confederation of Indian Industry asks for the corporate tax rate to be cut from 30% to 18%, while scrapping all tax breaks. We support the idea of a steep cut in the nominal rate while also removing all sorts of tax-planning opportunities. This would be more transparent and equitable vis-à-vis smaller companies. India's headline rate is pegged at 30% and 34.6% with cesses and surcharges. This sounds steep: for a sample of 173 nations, the average top corporate tax rate is 22.9%. But the plethora of exemptions ensures that any company with a decent tax planner pays much less. In India, too, the effective tax rate is a little over 20%, and that, too, only because the minimum alternate tax (MAT) puts a floor of 18%.

Clearing up the thicket of concessions will level the taxation playing field between large and small companies. According to the government's own calculations, India's largest companies with a turnover of more than Rs 5,000 crore per year, pay tax at an effective rate significantly lower than what smaller ones pay. There are two reasons for this anomaly.

One, bigger companies can afford expensive tax planners, out of reach for smaller ones. Two, bigger entities can house profit centres across the globe, including in tax havens, so as to move revenues around to minimise tax outgo. Companies with little or no global exposure cannot do this. A flat rate of 18% or thereabouts without exemptions will put all businesses, whatever their size, on the same level. The goods and services tax will widen the tax base for corporate tax, as more and more companies come into the indirect tax net and declare their true extent of production. A larger base will, by itself, permit lower rates.

Scrapping concessions will also cut down mis-invoicing of revenue and earnings. The simpler the tax laws, the lower the cost of compliance. From multiple points of view, of compliance, incentive to invest, revenue collected, equity and cost of compliance, the suggested move to low rates and few exemptions is most welcome.

दैनिक भास्कर

Date: 22-12-16

ईमानदार व्यवस्था के लिए बहुत कुछ करना होगा

नोटबंदी से जनता को हुई परेशानी के बीच व्यवस्था के ताकतवर लोगों पर कार्रवाई और दिखावटी राजनीतिक दलों को आयकर नोटिस दिए जाने के सुझाव में एक उम्मीद जरूर दिखाई पड़ रही है लेकिन, उससे कोई बहुत बड़ी संभावना नहीं बनती। इन कार्रवाइयों को नोटबंदी को सही साबित करने के लिए पेश किया जाना पूरी तरह से तार्किक इसलिए नहीं बैठता, क्योंकि ये बिना नोटबंदी के भी की जा सकती थीं।तमिलनाडु के मुख्य सचिव राममोहन राव से आयकर वालों की पूछताछ और चुनाव आयोग की तरफ से उन दो सौ पार्टियों को आयकर नोटिस दिए जाने का सुझाव जो चुनाव लड़े बिना ही चंदा बटोरती रहती हैं, भ्रष्टाचार मिटाने की दिशा में अच्छे कदम हैं। किंतु इन कदमों के लिए मौजूदा माहौल बनाने का औचित्य समझ में नहीं आता। तमिलनाडु के मुख्य सचिव तक आयकर विभाग के हाथ तब पहुंचे हैं जब उनके मोहल्ले में ही श्रीनिवास रेड्डी और शेखर रेड्डी के घर से 136 करोड़ रुपए की नकदी और 177 किलो सोना बरामद हुआ। रेड्डी बंधुओं ने

राममोहन राव का नाम लिया इसलिए वे संदेह के घेरे में आ गए। चर्चा के बावजूद इस मामले में किसी राजनेता का नाम नहीं आया है, जबकि मई 2016 में सत्ता में आने के बाद जयललिता ने अपने भरोसेमंद अधिकारी के तौर पर राममोहन राव की नियुक्ति की थी। अगर जयललिता की कार्यप्रणाली संदेहास्पद रही है तो निधन के बाद उनकी उत्तराधिकारी बन रही शशिकला भी कम विवादास्पद नहीं रही हैं। आज फिर तमिलनाडु की सत्ता के इर्द-गिर्द वे ही हावी हैं।

दूसरी तरफ चुनाव आयोग ने जिन 200 कारोबारी पार्टियों को आयकर का नोटिस भेजने का सुझाव दिया है उन्हें इसी एनडीए सरकार ने विदेशी चंदा लेने की कानूनी छूट प्रदान की थी। एक बात बहुत ध्यान से समझ लेनी चाहिए कि भ्रष्टाचार न तो चुनाव जीतने के उद्देश्य से की जाने वाली बाजीगारी से दूर होने वाला है और न ही कुछ छापामार लड़ाइयों से। यह लंबी बीमारी है, जिसके पीछे संपूर्ण व्यवस्था का किसी न किसी स्तर पर सहयोग रहता है। यह लड़ाई नई संस्थाएं बनाने, नई राजनीतिक संस्कृति विकसित करने और नागरिकों में नए किस्म की जिम्मेदारी और सुरक्षा पैदा करने से जीती जा सकेगी। महज सनसनी और भय से हासिल की जाने वाली जीत स्थायी नहीं होती।

Date: 22-12-16

अलेप्पो; 5 साल में तबाह हो गया 7 हजार साल पुराना शहर..

अलेप्पो। ये तस्वीरें अलेप्पो की हैं। सात हजार साल पुराना यह शहर पहले सीरिया को दूसरा सबसे बड़ा शहर था। लेकिन सरकार के खिलाफ विद्रोह होने के बाद से यह तबाह होता चला गया। 2012 में तो यह विद्रोहियों और आईएस आतंकियों का गढ़ बन चुका था। सेना ने लंबी लड़ाई में रूस और अमेरिका की मदद से विद्रोहियों को खदेड़ तो दिया। लेकिन इस लड़ाई में जिंदादिल शहर खंडहर में तब्दील हो गया। रूस ने बुधवार को कहा कि एक-दो दिन में सभी विद्रोहियों को खदेड़कर शहर को पूरी तरह खाली करा लिया जाएगा।

4 लाख लोगों की मौत: सेना और विद्रोहियों की जंग में 4 लाख से अधिक लोग मारे गए। इनमें 50 हजार से अधिक बच्चे थे। लाखों शहर छोड़ गए तो हजारों देश छोड़ यूरोप में रिफ्यूजी की जिंदगी बसर कर रहे हैं।

800 साल पुराना बाजार: यह 1200 से 1600 के बीच सीरिया का सबसे बड़ा बाजार था। भारत और ईरान से व्यापारी आते थे। 2011 में सीरिया में यह बड़ा ट्रेड सेंटर था।

मॉल को बनाया जेल: सबा 2009 तक सीरिया का सबसे बड़ा मॉल था। इसमें 4 स्टार होटल, 7 सिनेमाहॉल, 220 गेस्ट रूम भी थे। विद्रोहियों ने इसका प्रयोग जेल के रूप में किया।

735 में बनी थी उमयाद मस्जिद: यह शहर का सबसे महत्वपूर्ण धार्मिक केंद्र थी। आईएस आतंकियों और विद्रोहियों ने इसे मार्च 2009 में ब्लास्ट कर तबाह कर दिया।

ट्विटर गर्ल से मिले तुर्की के राष्ट्रपति : तुर्की के राष्ट्रपति तैयप एर्दोगन बुधवार को बाना एल आबेद और उसके भाई से मिले। बाना ने 9 दिसंबर को ट्वीट किया था, 'मेरा परिवार मुश्किल में है। मदद कीजिए।' तीन दिन पहले ही उन्हें सुरक्षित निकाला गया। अब वे तुर्की में हैं।

Date: 22-12-16

बेवजह की नुक्ताचीनी

जब से प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने नोटबंदी की घोषणा की है तब से उनके राजनीतिक विरोधी उन पर बिना किसी तैयारी के या सोचे-समझे अभूतपूर्व निर्णय लेने का आरोप लगा रहे हैं। आलोचकों का मानना है कि विमुद्रीकरण से लाखों भारतीयों का जीवन अस्त-व्यस्त हो गया है, छोटे उद्योग बर्बाद हो गए हैं और भारतीय अर्थव्यवस्था को झटका लगा है, लेकिन यदि कोई आठ नवंबर से कुछ महीने पूर्व दिए गए प्रधानमंत्री मोदी के सार्वजनिक वक्तव्यों पर नजर दौड़ाए, 2004 से 2014 तक काले धन और काली संपत्ति में हुई वृद्धि तथा मनमोहन सिंह की सरकार के दौरान घपले-घोटालों की जांच पड़ताल करे तो उसे इन आलोचनाओं में कोई दम नजर नहीं आएगा। पहला प्रश्न यह है कि क्या प्रधानमंत्री ने ऐसा कदम नादानी में उठाया है जिससे कि कुछ लोग चिंतित हो गए हैं अथवा यह विमुद्रीकरण उनकी सोची-समझी पूर्व रणनीति का हिस्सा है। वैसे तो आठ नवंबर, 2016 से पहले कई ऐसे अवसर आए जब प्रधानमंत्री ने ई-वॉलेट या ई-बैंकिंग की बात की, लेकिन 22 मई, 2016 को ऑल इंडिया रेडियो पर अपने लोकप्रिय मन की बात कार्यक्रम में उन्होंने अपने इरादे एकदम साफ कर दिए थे। जिन लोगों ने उन्हें उस दिन सुना होगा उन्हें आठ नवंबर की घटना आश्चर्यजनक नहीं लगी होगी। जाहिर है, प्रधानमंत्री इस विकल्प पर कुछ समय पूर्व से ही विचार कर रहे थे। विमुद्रीकरण के अपने फैसले से पांच माह पूर्व मई में ही उन्होंने अपने रेडियो प्रोग्राम में लोगों को कैश से लेस-कैश की ओर बढ़ने को प्रेरित किया था। उस दौरान उन्होंने कहा था कि एक आधुनिक और पारदर्शी भारत का निर्माण करना है तो हमें अपनी कुछ पुरानी आदतों को बदलना होगा। सदियों पहले यहां वस्तु विनिमय प्रणाली मौजूद थी।

उसके बाद धीरे-धीरे सिक्के और नोट चलन में आए, लेकिन अब दुनिया कैशलेस व्यवस्था की ओर बढ़ रही है। इलेक्ट्रॉनिक तकनीक से पैसे लेना और देना संभव है। हम इससे जरूरत की वस्तुएं खरीद सकते हैं और बिलों का भुगतान भी कर सकते हैं। इस तरह हमें अपने बटुए की चोरी होने की चिंता भी नहीं रहती है। शुरुआत में यह कुछ कठिन लग सकता है, लेकिन यदि हम इसका अभ्यास कर लें तो यह व्यवस्था हमें काफी आसान लगने लगेगी। मोदी ने अपने श्रोताओं से कहा था कि भारत को लेसकैश अर्थव्यवस्था की ओर ले जाने के लिए हाल के वर्षों में कई कदम उठाए गए हैं, जैसे कि प्रधानमंत्री जनधन योजना के तहत देश के सभी परिवारों को बैंकिंग प्रणाली से जोड़ना हो या रूपे कार्ड जारी किया जाना हो या सभी योजनाओं को आधार के जरिये जोड़ा जाना हो। यह भी सच है कि आज देश के प्रत्येक व्यक्ति के पास मोबाइल फोन है। उन्होंने कहा कि रूपे कार्ड को डेबिट और क्रेडिट कार्ड, दोनों तरह से काम में लाया जा सकेगा। और आजकल तो प्वाइंट ऑफ सेल (पीओएस) नामक एक बहुत छोटा उपकरण आ गया है, जिसकी मदद से आप अपने आधार नंबर या रूपे कार्ड से किसी दूसरे व्यक्ति को पैसे भेज सकते हैं। दूसरा यत्न हमने बैंक ऑन मोबाइल के रूप में किया है, जिसका नाम यूनिवर्सल पेमेंट इंटरफेस (यूपीआइ) बैंकिंग है। इस प्रकार उन्होंने जनधन, आधार और मोबाइल को मिलाकर कहा कि जैम (जेएएम) के जरिये हम कैशलेस सोसायटी की ओर बढ़ सकते हैं। दरअसल वह आने वाले दिनों के लिए अपने श्रोताओं को मानसिक रूप से तैयार कर रहे थे। उन्होंने कहा कि यदि हम इस व्यवस्था को सीखते और प्रयोग करते हैं तो हमें नोटों की जरूरत नहीं पड़ेगी, हमारा कारोबार बिना किसी रुकावट के फल-फूल सकेगा, रिश्वतखोरी रुकेगी और काले धन का प्रभाव कम होगा। लिहाजा मैं देशवासियों से अपील करता हूं कि हमें कम से कम शुरुआत करनी चाहिए। यदि एक बार हम शुरुआत कर देंगे तब आगे का रास्ता काफी आसान हो जाएगा। उन्होंने कहा कि बीस वर्ष पहले किसने सोचा होगा कि लोगों के पास मोबाइल फोन होंगे। फिर हम सभी ने उसका उपयोग सीखा और आज बिना मोबाइल फोन के जिंदगी की कल्पना नहीं कर सकते हैं। यह कैशलेस सोसायटी का विचार भी देश के लिए कुछ ऐसा ही है, लेकिन जितनी जल्दी हम इसे अपनाएंगे, उतनी ही जल्द हालात हमारे अनुकूल हो जाएंगे। क्या कोई भी प्रधानमंत्री काले

धन पर प्रहार करने, विमुद्रीकरण का फैसला लेने और समाज को कैशलेस अर्थव्यवस्था की ओर ले जाने के अपने इरादे को इससे ज्यादा खुलकर बता सकता है? दूसरी बात यह है कि विमुद्रीकरण को अनावश्यक बताकर प्रधानमंत्री पर कुछ लोग आरोप लगा रहे हैं कि इससे उन्होंने देश की अर्थव्यवस्था को बेवजह संकट में डाल दिया है। इसका सबसे बेहतर जवाब जाने-माने लेखक और आर्थिक तथा राजनीतिक विश्लेषक एस. गुरुमूर्ति ने दिया है। उनके अनुसार मोदी कड़वी डोज देने के लिए इसलिए मजबूर हुए हैं, क्योंकि उनके पूर्ववर्ती डॉ. मनमोहन सिंह ने देश के आर्थिक प्रबंधन को दयनीय बना दिया था।

यदि मोदी कठोर निर्णय नहीं लेते तो यह भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए विध्वंसकारी होता। आंकड़ों के आधार पर उन्होंने बताया कि कैसे मनमोहन सिंह भारत की अर्थव्यवस्था को संभालने में पूरी तरह विफल साबित हुए थे। हालांकि 2004 से लेकर 2010 तक जीडीपी की वृद्धि दर ऊंची रही, लेकिन इस दौरान नई नौकरियों का सृजन नहीं हुआ, क्योंकि यह कथित विकास ज्यादातर संपत्ति में मुद्रास्फीति के वजह से हुआ था। उस दौरान रियल एस्टेट और सोने की कीमतों में भारी बढ़ोतरी हुई और विकास की झूठी धारणा पैदा हुई। परिणाम स्वरूप जीडीपी 8.4 प्रतिशत की दर से बढ़ी, लेकिन सिर्फ 2.7 लाख ही नई नौकरियां पैदा हो सकी थीं। इसके अतिरिक्त अर्थव्यवस्था में काले धन का प्रवाह बेतहाशा बढ़ा। विमुद्रीकरण क्यों अपरिहार्य था, इसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा कि बड़े वर्ग के नोटों की हिस्सेदारी जहां 2004 में 34 प्रतिशत थी वहीं 2010 में यह बढ़कर 79 प्रतिशत हो गई। जबकि आठ नवंबर, 2016 को इसकी हिस्सेदारी 87 प्रतिशत थी।

इस प्रकार 2004 से लेकर 2013 के दौरान बड़े वर्ग के नोटों की संख्या में औसत वृद्धि 51 से 63 प्रतिशत रही। रिजर्व बैंक के अनुसार एक हजार रुपये के दो तिहाई नोट और पांच सौ रुपये के एक तिहाई नोट (जो मिलकर छह लाख करोड़ होते हैं) जारी होने के बाद से कभी बैंक में नहीं आए। बैंक की निगरानी से दूर ये नोट सोने और जमीन की कीमतों को बढ़ा रहे थे। विकास की यह झूठी धारणा तब तक मौजूद रहती जब तक कि बैंकिंग जगत से बाहर के इन नोटों को पकड़ा नहीं जाता। बहरहाल अब एक बात साफ हो गई है कि क्यों तमाम दलों सहित काले धन के कुबेर आठ नवंबर की घोषणा से अनजान थे। दरअसल उन्होंने प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के मन की बात कभी सुनी ही नहीं। [लेखक ए. सूर्यप्रकाश, प्रसार भारती के अध्यक्ष और जाने-माने स्तंभकार हैं]

Date: 22-12-16

निजी बैंकों का नियमन

नोटबंदी के बाद निजी क्षेत्र के बैंकों की भूमिका को लेकर सरकार चिंतित है। सरकार इन बैंकों के खिलाफ यथासंभव कठोर कार्रवाई करें।

केवल इतना ही पर्याप्त नहीं कि नोटबंदी के बाद निजी क्षेत्र के बैंकों की भूमिका को लेकर सरकार चिंतित है। इसके साथ ही यह भी जरूरी है कि सरकार और रिजर्व बैंक संदेह के कठघरे में खड़े इन बैंकों के खिलाफ यथासंभव कठोर कार्रवाई करें। इसमें संदेह है कि निजी क्षेत्र के बैंकों के शीर्ष अधिकारियों को दिए गए इस निर्देश से कुछ विशेष हासिल होने वाला है कि वे अपने स्तर पर सख्त कदम उठाएं। क्या ये अधिकारी इससे परिचित नहीं कि उनके तमाम कर्मियों ने किस तरह सरकार और साथ ही आम जनता से विश्वासघात किया? यह बेहद शर्मनाक है कि जब निजी क्षेत्र के बैंकों को आम जनता को राहत देने के लिए हर संभव कोशिश करनी चाहिए थी तब उनकी तमाम शाखाओं के जरिये काले धन वालों का काम आसान हुआ। ऐसा इसलिए हुआ, क्योंकि इन बैंकों ने अपने सभी खातों का सत्यापन नहीं किया था। यही खाते गोरखधंधे का जरिया बने।

आखिर रिजर्व बैंक को निजी क्षेत्र के उन बैंकों के खिलाफ कार्रवाई करने में संकोच क्यों होना चाहिए जिन्होंने उसके निर्देशों का पालन करने में हीलाहवाली की? नि:संदेह निजी क्षेत्र के बैंकों के सभी अधिकारियों और कर्मचारियों पर तोहमत नहीं मढ़ी जा सकती। मुट्ठी भर ने ही खुद को काली भेड़ों में तब्दील किया होगा, लेकिन उनकी कारस्तानी से उनके सभी साथी बदनाम हुए। यह कहने में हर्ज नहीं कि निजी क्षेत्र के बैंक संदेह की निगाह से देखे जा रहे हैं और इसके लिए वे खुद के अलावा अन्य किसी को दोष नहीं दो सकते।

निजी क्षेत्र के बैंकों के आला अधिकारी यह कहकर कर्तव्य की इतिश्री नहीं कर सकते कि वे अपने भ्रष्ट कर्मियों के आचरण से शर्मिंदा हैं। उन्हें यह अहसास होना चाहिए कि आम जनता के बीच यह धारणा गहरा गई है कि निजी बैंकों ने जमकर मनमानी की। इस मनमानी के तमाम प्रमाण भी सामने आए हैं। चिंताजनक केवल यही नहीं है कि निजी बैंकों की कई शाखाओं में फर्जी खाते मिले, बल्कि यह भी है कि वे अपने एटीएम में पैसा डालने के मामले में लापरवाह दिखे।

यह एक तथ्य है और इससे न सरकार इन्कार कर सकती है और न ही रिजर्व बैंक कि निजी क्षेत्र के बैंकों के तमाम एटीएम अभी भी ऐसे हैं जिनमें नोटबंदी के बाद से एक भी पैसा नहीं डाला गया। क्या निजी बैंकों से यह पूछताछ नहीं होनी चाहिए थी कि वे एटीएम में पैसा पहुंचाने के मामले में इतने फिसड्डी क्यों साबित हो रहे हैं? अब जब नोटबंदी की अवधि खत्म होने में मुश्किल से एक सप्ताह ही रह गया है तब फिर यह सवाल तो किया ही जाना चाहिए। निजी बैंकों के स्तर पर हुई गड़बड़ी नियामक संस्था यानी रिजर्व बैंक की ढिलाई को भी बयान करती है। यदि नियामक संस्थाएं अपने निर्देशों के उल्लंघन पर सख्ती नहीं दिखाएंगी तो फिर यह नहीं कहा जा सकता कि उन्हें जनता के हितों की परवाह है। बेहतर हो कि रिजर्व बैंक भी अपनी कमजोरी को दूर करे और साथ ही निजी बैंक भी यह समझें कि उनके बारे में जो धारणा बनी है उसे दूर करने के लिए उन्हें कुछ ठोस कदम उठाने होंगे। केवल चिंता जताने अथवा आश्वासन देने भर से निजी बैंकों के शीर्ष अधिकारी क्षति की भरपाई करने में सफल होने वाले नहीं हैं।

THE HINDU

Date: 21-12-16

Time for a policy shift

Ever since E.F. Schumacher, a British economist, published in 1973 his book *Small is Beautiful*, implying that small units are better in terms of performance indicators and labour absorption, several studies have endorsed the same idea and argued in favour of promoting small units. Stretching the argument a little further, it may be emphasised that small units are the epicentres of pro-poor growth.

In the context of the manufacturing and agriculture sectors, the debate on small versus large dominated the intellectual space for several decades. Small units are usually thought to be efficient in terms of resource use and management, and

technically more efficient. However, small units do not have access to several kinds of resources, particularly in relation to credit and marketing facilities, and are not able to reap the economies of scale. Thus, large units may reveal better performance indicators and may have an edge in market competition.

The unorganised manufacturing sector, which includes both household and non-household units, accounts for a large majority of total manufacturing employment in India and the units in this sector are by definition small in size. To ensure decent wages to the workers in this sector and to ensure pro-poor growth, the units in this sector have to be made economically viable. Enhancing the technological capabilities of such units and getting them integrated into national and regional value chains is obviously important to ensure their economic viability.

Organised versus unorganised units

One way of judging the economic viability of unorganised manufacturing units is to consider the performance index in terms of 'technical efficiency' — or the ability of an industrial unit to transform inputs into output judged against the best practice units in the same industry — relative to the organised sector units. The research on technical efficiency and total factor productivity (a concept akin to technical efficiency) of unorganised manufacturing industrial units in India undertaken by us and by other scholars tends to offer little evidence in favour of positive links between the organised and the unorganised sector units perceived in terms of inter-sectoral efficiency differences and associations between them. Within the unorganised sector, units seem to reveal similar characteristics in terms of performance indicators, while organised sector units are much better performers. More importantly, unorganised sector units are not able to benefit in the process of rapid economic growth. The demand side factor or agglomeration-specific factor does not impact on the performance of unorganised sector enterprises in a favourable way. On the other hand, organised sector units respond positively to a rise in income in the region where they are located, which possibly can be explained in terms of quality differences in the products manufactured by the organised and unorganised sectors.

With a rise in income, demand for products shifts away from the unorganised to the organised sector. Though the process of ancillarisation is expected to benefit unorganised sector units indirectly by creating greater opportunities through inter-sectoral linkages, the increasing role of labour intermediaries and payment of wages on piece rate basis do not seem to be facilitating the process of positive spillover. The level of infrastructure also does not exert a positive impact on the performance of the unorganised sector, while the efficiency of the organised sector improves with a rise in the availability of infrastructure. On the whole, unorganised sector enterprises exist to provide means of survival only, which is especially true for household units. Even when opportunities exist to make them dynamic with enhanced participation in the growth process, several mechanisms appear to be counterproductive.

Policy implications are to be perceived in terms of product quality improvement within the unorganised sector so that demand for the products of the unorganised sector can expand. Second, steps need to be initiated for improving their accessibility to infrastructure provisions. There are many unorganised sector units, particularly ones that are operated by households, which are located in remote rural areas.

Unorganised manufacturing units in a sense cater only to local markets and are not able to expand their market size in a significant way. The lack of favourable impact of road length on unorganised sector units that we found in our research needs to be interpreted as the inadequacy in the availability of infrastructure. Also, the kinds of facilities (such as credit and marketing assistance) they actually require are often absent. Issues related to the pricing of infrastructure, particularly electricity, have also to be revisited in order to determine the optimal price that unorganised sector units can afford. Besides, the role of institutions is important to ensure due share to unorganised sector enterprises. In spite of the inter-sectoral linkages, the units are not able to benefit in the process of growth as the mechanisms through which the transactions operate are not necessarily positive or generative in the face of their poor bargaining power.

The urban advantage

Findings of some past research on the efficiency of India's unorganised manufacturing sector point to higher technical efficiency of small industrial units in urban areas than their counterparts in rural areas, reflecting certain advantages accruing to small industrial units if they are located in urban areas. Evidently, the government policy initiatives for promoting urbanisation in India, particularly the 'Smart Cities' programme, are expected to help make unorganised manufacturing more economically viable. Several small towns (census towns) which have been recognised as urban by Census 2011 but still do not have urban local bodies are not able to draw investment meant specifically for urban areas. Once they are treated as a part of urban areas, unorganised sector units in such localities will benefit significantly. Since engagement in sub-contracting activity enhances to some extent technical efficiency of unorganised manufacturing units and the incidence of sub-contracting is relatively greater in urban areas, it follows that a process of rapid urbanisation will help.

Within unorganised manufacturing, household-based units with only family labour are known to be much less efficient than non-household manufacturing units, also known as 'establishments', which are relatively bigger in employment size and make use of non-family hired labour. In terms of labour standards, household units perform far worse than unorganised non-household units. Therefore, an important policy question is whether the unorganised manufacturing sector should be helped to restructure increasingly from household units to establishments. Such a transformation will provide efficiency gains to unorganised manufacturing, but may come at the cost of some loss in employment.

Bishwanath Goldar and Arup Mitra are with the Institute of Economic Growth, Delhi University.

Live हिन्दुस्तान .com

Date: 21-12-16

देशद्रोह के आरोप की गिरफ्त में फिर आया लेखक

एक लेखक ने फेसबुक पर अपनी कृति का एक अंश पोस्ट किया, कुछ लोगों को यह राष्ट्रगान का अपमान लगा, उन्होंने पुलिस में शिकायत कर दी। हरकत में आई पुलिस ने आनन-फानन में लेखक को राष्ट्रद्रोह के केस में आरोपी बनाते हुए गिरफ्तार कर लिया। यह सब भी तब हुआ, जब लेखक अग्रिम जमानत के लिए अदालत जाने की तैयारी में था। यह वाकया है केरल का, जहां मलयालम लेखक और रंगकर्मी कमल चवारा को पुलिस ने राष्ट्रद्रोह यानी आईपीसी की धारा-124ए के अंतर्गत गिरफ्तार किया। उन पर आरोप है कि उन्होंने फेसबुक पर अपने ताजा उपन्यास का एक अंश पोस्ट किया, जिसमें उन्होंने लिखा- हर दिन चार बजे स्कूल में राष्ट्रगान के लिए खड़ा होना पड़ता था, लेकिन लघुशंका उनके लिए जन-गण-मन से ज्यादा अहम थी, लिहाजा वह स्कूल के सबसे अनुशासनहीन छात्र थे।

संभव है कि कुछ लोगों को इसमें राष्ट्रगान का अपमान दिखता हो, मगर उस किताब और प्रसंग को समग्रता में देखा जाना चाहिए। दंड संहिता की धारा-124ए साफ तौर पर कहती है कि कोई भी व्यक्ति, जो अपने लेखन से या भाषण से या अपने क्रिया-कलापों से विधि द्वारा स्थापित सरकार के खिलाफ घृणा या विद्रोह की चिनगारी को हवा देता हो, इसमें आरोपित हो सकता है। लेकिन इस कानून में ही यह व्याख्या भी की गई है कि किन परिस्थितियों में लेखन, भाषण आदि राष्ट्रद्रोह नहीं होते हैं। सवाल यह उठता है कि इस तरह का लेखन राष्ट्रद्रोह कैसे हो गया? ज्यादा से ज्यादा पुलिस इस मामले में भावनाओं को आहत करने के लिए धारा-295ए लगा सकती थी।

इस पूरे मसले पर सबसे दिलचस्प बयान केरल के वामपंथी मुख्यमंत्री विजयन का आया है, जिन्होंने इसके लिए राष्ट्रीय स्वंयसेवक संघ की सांप्रदायिक राजनीति को जिम्मेदार ठहराया है। उनका आरोप है कि संघ परिवार से जुड़े लोग लेखक को मुस्लिम राष्ट्रद्रोही करार दे रहे थे और सांप्रदायकिता का जहर फैला रहे थे। अगर ऐसा था, तो क्या सरकार शिकायतकर्ताओं के दबाव में काम करती है? क्या कानून की धारा का उपयोग पुलिस किसी की मंशा को ध्यान में रखकर लगाती है या फिर उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर? सच तो यह है कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का ध्वजवाहक होने का दावा करने वाली वामपंथी विचारधारा की सरकार ने भी वही किया, जिसका आरोप उनके नेता दिल्ली पुलिस पर लगाती रही है। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के तत्कालीन अध्यक्ष कन्हैया कुमार पर जब राष्ट्रद्रोह की धारा लगाकर उसको गिरफ्तार किया गया, तो वामपंथियों का इल्जाम था कि दिल्ली पुलिस मोदी सरकार के इशारे पर अभिव्यक्ति की आजादी को दबाना चाहती है।यही चरित्र उस वक्त पश्चिम बंगाल में भी देखने को मिला था, जब वामपंथियों की सरकार ने कोलकाता में निर्वासित जीवन बिता रही तस्लीमा नसरीन को सूबे से निकाल दिया था। दरअसल सत्ता का चरित्र एक जैसा होता है।

सरकार चाहे किसी भी दल की हो, उसका व्यवहार करीब-करीब एक जैसा होता है। तमिल लेखक मुरुगन के मामले में भी ऐसा ही हुआ था। स्थानीय विरोध और पुलिस और प्रशासन के जबरन माफीनामे के बाद उन्होंने एक लेखक की मौत का एलान कर दिया था। मामला जब मद्रास हाईकोर्ट में पहुंचा, तो विद्वान न्यायाधीश संजय किशन कौल ने करीब एक सौ साठ पन्नों का ऐतिहासिक फैसला दिया। फैसले में लेखकीय स्वतंत्रता को कायम रखने पर जोर देते हुए कहा गया है कि अगर कोई किसी किताब से इत्तिफाक नहीं रखता है या उसमें लिखे हुए शब्दों से उसकी भावनाएं आहत होती हैं, तो वह उसको अलग रख दे। फैसले में साफ कहा गया है कि कोई भी चीज, जो पहले स्वीकार्य न हो, वह बाद में स्वीकार की जा सकती है। न्यायाधीश ने इस संबंध में लेडी चौटर्लीज लवर का उदाहरण भी दिया।

अब वक्त आ गया है कि राष्ट्रद्रोह की इस धारा पर देशव्यापी बहस होनी चाहिए। जब संविधान बना था, तब देश की स्थितियां कुछ और थीं और 70 साल बाद देश काफी बदल चुका है और बदल चुकी है देश के नेताओं की मानसिकता। पुलिस इस धारा का बेजा इस्तेमाल न कर सके, इसके लिए जरूरी है कि या तो संसद या फिर देश की शीर्ष अदालत इस कानून की उन स्थितियों को साफ करे, जिनमें देशद्रोह की धारा लग सकती है।

अनंत विजय, टेलीविजन पत्रकार,(ये लेखक के अपने विचार हैं)

Date: 21-12-16

रूसी राजदूत की हत्या

आज के संवेदनशील और आतंकवाद से भयाक्रांत समय में जिस तरह तुर्की में रूसी राजदूत की हत्या हुई, उसने बहुत सारे सवाल खड़े कर दिए हैं। इसने अंतरराष्ट्रीय संबंधों और अंतरराष्ट्रीय राजनीति पर भी कहीं न कहीं असर डाला है। रूसी राजदूत आंद्रे जी कार्लोव की हत्या उस वक्त हुई, जब वह तुर्की की राजधानी अंकारा में एक चित्र प्रदर्शनी का अवलोकन करने के बाद वहां मौजूद गणमान्य लोगों को संबोधित कर रहे थे। जाहिर सी बात है कि वहां सुरक्षा भी कम न रही होगी। लेकिन जिस तरह से हत्यारे ने भाषण के दौरान उनके ठीक पीछे अपनी जगह बना ली और कुछ देर तक किसी सुरक्षा प्रहरी की मानिंद वहीं जड़वत खड़ा भी रहा और फिर मौका देखकर कार्लोव को गोलियों से भून दिया, वह अंतरराष्ट्रीय स्तर पर बहस का विषय बनेगा।

इस हत्या ने अगर 1914 में ऑस्ट्रिया के आर्क ड्यूक फ्रेंज फर्डिनेंड की हत्या की याद दिलाई है, तो इसने सुरक्षा में सेंध के लिहाज से भारतीय प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी और बाद में राजीव गांधी की हत्याओं की भी याद ताजा कर दी है। आर्क ड्यूक फ्रेंज फर्डिनेंड की सरायेवो में गावरिलो प्रिंसिप नाम के व्यक्ति ने इसलिए हत्या कर दी थी कि उसका ग्रुप ऑस्ट्रिया-हंगरी गठजोड़ के खिलाफ था। इसी हत्या ने प्रथम विश्व युद्ध की जमीन तैयार कर दी थी। इंदिरा गांधी की हत्या उन्हीं के सिख अंगरक्षकों ने इसलिए कर दी थी कि वे पंजाब में श्रीमती गांधी की भूमिका से आहत थे। राजीव गांधी की हत्या के पीछे लिट्टे का हाथ था। पर इस कारणों से ज्यादा इन हत्याओं की याद इसलिए भी आ रही है कि इन सबके पीछे कहीं न कहीं सुरक्षा की बड़ी चूक सामने आई, जो कहीं न कहीं इनके विश्वास से जुड़ी थी और हत्यारों ने बड़ी आसानी से अपनी जगह बनाकर अपने मकसद को अंजाम दिया था।

कार्लोव उस वक्त मारे गए, जब वह चित्र प्रदर्शनी देखने के बाद बड़े सहज भाव से अपनी राय का इजहार कर रहे थे। ऐसे कलात्मक माहौल में सुरक्षा का घेरा यूं भी शिथिल हो जाया करता है। इसी का लाभ कार्लोव के हत्यारे उस पुलिसकर्मी ने उठाया, जो उस वक्त ड्यूटी पर भी नहीं था। उसने जिस तरह से कार्लोव को गोलियों से भूना, और उसके बाद मची अफरा-तफरी के माहौल में भी कुछ देर तक चिल्ला-चिल्लाकर अपनी बातें कहीं और सीरिया समर्थक नारे लगाए, उसने यह बता दिया कि यह सीरिया में रूस की भूमिका से उपजे आक्रोश का कुफल है। सीरिया के हालात से उपजा आक्रोश, तुर्की की राजधानी में घटी घटना और रूस के राजदूत का शिकार बनना कई चर्चाएं दे गया है। कतिपय कारण इसमें तुर्की की भूमिका पर सवाल उठा रहे हैं। हालांकि शायद यह अभी दूर की कौड़ी लगे, लेकिन इसने भविष्य के क्षेत्रीय संघर्ष की जमीन तो तैयार ही कर दी है।

खतरा इस बात का है कि इस घटना के बाद रूस और तुर्की के संबंध इतने तल्ख न हो जाएं कि किसी नए और बड़े संघर्ष की जमीन तैयार हो जाए, लेकिन शायद अभी इसके लिए समय उपयुक्त नहीं है। रूस और तुर्की की पहल से भी यही बात सामने आ रही है। अंकारा और क्रेमलिन ने इस दुर्भाग्यपूर्ण घटना के तत्काल बाद रूस, तुर्की और ईरान के रक्षा व विदेश मंत्रियों की बैठक की पहल करके यह साफ करने को कोशिश की है कि सीरिया के मामले में उनका स्टैंड अब भी नहीं बदला है और यह भी कि वे इस बैठक के जरिये कोई नया संदेश देने जा रहे हैं। जाहिर है, सीरिया में सबके अपने-अपने हित हैं और ये नहीं चाहेंगे कि उन हितों को साधने में कोई विराम लगाना पड़े। हादसे में तुर्की की भूमिका के सवाल को दरकिनार करना भी इसी कूटनीति का हिस्सा हो सकता है।

राष्ट्रीय सहारा

Date: 21-12-16

शराबबंदी और मुंसिफों के चश्मे

2016 खत्म होने को है। इस साल शराबबंदी को ले कर जितनी चर्चा बिहार की हुई है, उतनी और किसी राज्य की नहीं हुई। हालांकि प्रतिबंध और भी कई राज्यों में है। विपक्ष ने राज्य को हर साल पांच सौ करोड़ के राजस्व की हानि के लिए नीतीश सरकार की कटु आलोचना की है। खोजी पत्रकारों ने ढूंढ कर कई ऐसे आंकड़े पेश किए, जिनसे जाहिर हुआ कि प्रतिबंध के बाद किस तरह से पड़ोसी राज्यों से होने वाली शराब की तस्करी बढ़ी है।

बीते अगस्त में जब गोपालगंज में 13 लोगों की मृत्यु हुई तो राष्ट्रीय स्तर पर वह शराब त्रासदी के रूप में ही प्रसारित हुई, हालांकि जिले के डीएम और एसपी ने उसकी पुष्टि नहीं की।कई बुद्धिजीवियों ने अपने समाजशास्त्रीय अध्ययन से यह समझाने की कोशिश की कि किस तरह घटिया शराब पीने वाले मनोरंजन के अन्य साधनों के अभाव में थकान उतारने के नाम पर अपनी सारी कमाई लुटा आते हैं और हिंसा करते हैं। इससे घर-परिवार बर्बाद होते हैं। नशे की वही लत उन्हें जहरीली शराब तक ले जाती है, जिससे जिंदगियां बर्बाद होती हैं। इतना विश्लेषण महंगी शराब पीने वालों के बारे में नहीं हो सका। हां, यह जरूर कहा गया कि प्रतिबंध किसी व्यसन का इलाज नहीं कर सकता, इससे दूसरे कई अवैध रास्ते खुलने लगते हैं। यहां तक तो फिर भी गनीमत थी।

लेकिन बिहार का शराबबंदी कानून अदालत तक जा पहुंचा। हाईकोर्ट में उस कानून की संवैधानिकता पर बहस हुई। और जब मामला हाईकोर्ट से सुप्रीम कोर्ट पहुंचा तो मुद्दा यह बना कि शराब पीना किसी नागरिक का मौलिक अधिकार है या नहीं। क्या शराब पर प्रतिबंध लगाने से नागरिकों के मौलिक अधिकारों का हनन होता है? अगर शराब के पास आत्मा होती तो इस इज्जत बख्शी के लिए वह बहुत कृतज्ञ महसूस करती। नीतीश कुमार पिछले चुनाव में जिन कारणों से जीत कर आए, उनमें से एक शराबबंदी का उनका वादा भी था। वे जीते और अपना वादा निभाते हुए 1 अप्रैल 2016 से उन्होंने राज्य में शराबबंदी की घोषणा कर दी। विधान सभा से पारित होने और राज्यपाल की मंजूरी मिलने के बाद सरकार 2 अक्टूबर से उसे लागू करने जा रही थी, तब तक मामला पटना हाईकोर्ट चला गया और हाईकोर्ट ने उस बिल को असंवैधानिक बता कर खारिज कर दिया। इसके बाद राज्य सरकार ने और कड़ा कानून बनाया, जिसमें शराब पाए जाने पर घर के सभी वयस्कों की गिरफ्तारी और शराब की लत के लिए किसी इलाके पर सामूहिक जुर्माना लगाने जैसे प्रावधान रखे गए हैं। फिलहाल सुप्रीम कोर्ट ने हाईकोर्ट के उस फैसले पर स्टे लगा दिया है और बिहार में राज्य सरकार का कानून ही प्रभावी है।

मगर क्या कभी इस बात पर गौर किया है कि देश में इतनी चिंता या दुश्चिंता बिहार की शराबबंदी को ही ले कर क्यों है? देश में और भी कई राज्य और केंद्र शासित क्षेत्र हैं, जहां शराब प्रतिबंधित है। और उनके लिए जो कानून और व्यवस्था है, वह हास्यास्पदता की हद तक बेमेल है। मणिपुर में 1991 से शराबबंदी लागू है। 2002 में कुछ जिलों से प्रतिबंध हटा लिया गया, लेकिन कुछ जिलों में लागू रहा। अब जो नई सरकार आई है, उसने पिछले साल कहा कि धीरे-धीरे वह अन्य जिलों से भी प्रतिबंध हटाने पर विचार कर रही है। नगालैंड में 1989 से शराब की बिक्री और उसके सेवन पर रोक है, लेकिन एक मोटे अनुमान के अनुसार अकेले दीमापुर में शराब की पांच सौ से ज्यादा अवैध दुकानें और बार हैं। लक्षद्वीप में शराब पर पाबंदी है, लेकिन उसके एक टापू बंगाराम पर छूट है, जबकि वहां किसी तरह की आबादी नहीं है। सवाल शराबबंदी का नहीं बल्कि सवाल हमारे मूल्यांकन के पूर्वाग्रह का है। स्पष्ट है कि एक जगह का तर्क दूसरी जगह लागू नहीं होता। सरकारें अपनी सुविधा से या अपनी लोकप्रियता के लिए ऐसे फैसले लेती हैं या ऐसी पाबंदियां हटाती हैं। उन्हें अपने ही विवेक से शासन चलाना होता है। यह तो बिहार सरकार ही बता सकती है कि शराबबंदी के बाद वहां के परिवारों के टूटने की दर या हिंसा में कितनी कमी आई है। या प्रति व्यक्ति या प्रति परिवार बचत में कितना इजाफा हुआ है। किंतु अभी तक किसी और ने इसका व्यवस्थित अध्ययन नहीं किया है। हां, राष्ट्रीय स्तर पर शराबबंदी की जितनी चर्चा हुई है, उतनी गर्मजोशी दूसरे राज्यों के मामले में नहीं दिखी।

2016 खत्म होने को है। इस साल शराबबंदी को ले कर जितनी चर्चा बिहार की हुई है, उतनी और किसी राज्य की नहीं हुई। हालांकि प्रतिबंध और भी कई राज्यों में है। विपक्ष ने राज्य को हर साल पांच सौ करोड़ के राजस्व की हानि के लिए नीतीश सरकार की कटु आलोचना की है। खोजी पत्रकारों ने ढूंढ कर कई ऐसे आंकड़े पेश किए, जिनसे जाहिर हुआ कि प्रतिबंध के बाद किस तरह से पड़ोसी राज्यों से होने वाली शराब की तस्करी बढ़ी है। बीते अगस्त में जब गोपालगंज में 13 लोगों की मृत्यु हुई तो राष्ट्रीय स्तर पर वह शराब त्रासदी के रूप में ही प्रसारित हुई, हालांकि जिले के डीएम और एसपी ने उसकी पुष्टि नहीं की।कई बुद्धिजीवियों ने अपने समाजशास्त्रीय अध्ययन से यह समझाने की कोशिश की कि किस तरह घटिया शराब पीने वाले मनोरंजन के अन्य साधनों के अभाव में थकान उतारने के नाम पर अपनी सारी कमाई लुटा आते हैं और

हिंसा करते हैं। इससे घर-परिवार बर्बाद होते हैं। नशे की वही लत उन्हें जहरीली शराब तक ले जाती है, जिससे जिंदगियां बर्बाद होती हैं। इतना विश्लेषण महंगी शराब पीने वालों के बारे में नहीं हो सका।

हां, यह जरूर कहा गया कि प्रतिबंध किसी व्यसन का इलाज नहीं कर सकता, इससे दूसरे कई अवैध रास्ते खुलने लगते हैं। यहां तक तो फिर भी गनीमत थी। लेकिन बिहार का शराबबंदी कानून अदालत तक जा पहुंचा। हाईकोर्ट में उस कानून की संवैधानिकता पर बहस हुई। और जब मामला हाईकोर्ट से सुप्रीम कोर्ट पहुंचा तो मुद्दा यह बना कि शराब पीना किसी नागरिक का मौलिक अधिकार है या नहीं। क्या शराब पर प्रतिबंध लगाने से नागरिकों के मौलिक अधिकारों का हनन होता है? अगर शराब के पास आत्मा होती तो इस इज्जत बख्शी के लिए वह बहुत कृतज्ञ महसूस करती। नीतीश कुमार पिछले चुनाव में जिन कारणों से जीत कर आए, उनमें से एक शराबबंदी का उनका वादा भी था। वे जीते और अपना वादा निभाते हुए 1 अप्रैल 2016 से उन्होंने राज्य में शराबबंदी की घोषणा कर दी। विधान सभा से पारित होने और राज्यपाल की मंजूरी मिलने के बाद सरकार 2 अक्टूबर से उसे लागू करने जा रही थी, तब तक मामला पटना हाईकोर्ट चला गया और हाईकोर्ट ने उस बिल को असंवैधानिक बता कर खारिज कर दिया। इसके बाद राज्य सरकार ने और कड़ा कानून बनाया, जिसमें शराब पाए जाने पर घर के सभी वयस्कों की गिरफ्तारी और शराब की लत के लिए किसी इलाके पर सामूहिक जुर्माना लगाने जैसे प्रावधान रखे गए हैं। फिलहाल सुप्रीम कोर्ट ने हाईकोर्ट के उस फैसले पर स्टे लगा दिया है और बिहार में राज्य सरकार का कानून ही प्रभावी है।

मगर क्या कभी इस बात पर गौर किया है कि देश में इतनी चिंता या दुश्चिंता बिहार की शराबबंदी को ही ले कर क्यों है? देश में और भी कई राज्य और केंद्र शासित क्षेत्र हैं, जहां शराब प्रतिबंधित है। और उनके लिए जो कानून और व्यवस्था है, वह हास्यास्पदता की हद तक बेमेल है। मणिपुर में 1991 से शराबबंदी लागू है। 2002 में कुछ जिलों से प्रतिबंध हटा लिया गया, लेकिन कुछ जिलों में लागू रहा। अब जो नई सरकार आई है, उसने पिछले साल कहा कि धीरे-धीरे वह अन्य जिलों से भी प्रतिबंध हटाने पर विचार कर रही है। नगालैंड में 1989 से शराब की बिक्री और उसके सेवन पर रोक है, लेकिन एक मोटे अनुमान के अनुसार अकेले दीमापुर में शराब की पांच सौ से ज्यादा अवैध दुकानें और बार हैं। लक्षद्वीप में शराब पर पाबंदी है, लेकिन उसके एक टापू बंगाराम पर छूट है, जबकि वहां किसी तरह की आबादी नहीं है। सवाल शराबबंदी का नहीं बल्कि सवाल हमारे मूल्यांकन के पूर्वाग्रह का है। स्पष्ट है कि एक जगह का तर्क दूसरी जगह लागू नहीं होता। सरकारें अपनी सुविधा से या अपनी लोकप्रियता के लिए ऐसे फैसले लेती हैं या ऐसी पाबंदियां हटाती हैं। उन्हें अपने ही विवेक से शासन चलाना होता है। यह तो बिहार सरकार ही बता सकती है कि शराबबंदी के बाद वहां के परिवारों के टूटने की दर या हिंसा में कितनी कमी आई है। या प्रति व्यक्ति या प्रति परिवार बचत में कितना इजाफा हुआ है। किंतु अभी तक किसी और ने इसका व्यवस्थित अध्ययन नहीं किया है। हां, राष्ट्रीय स्तर पर शराबबंदी की जितनी चर्चा हुई है, उतनी गर्मजोशी दूसरे राज्यों के मामले में नहीं दिखी।

2016 खत्म होने को है। इस साल शराबबंदी को ले कर जितनी चर्चा बिहार की हुई है, उतनी और किसी राज्य की नहीं हुई। हालांकि प्रतिबंध और भी कई राज्यों में है। विपक्ष ने राज्य को हर साल पांच सौ करोड़ के राजस्व की हानि के लिए नीतीश सरकार की कटु आलोचना की है। खोजी पत्रकारों ने ढूंढ कर कई ऐसे आंकड़े पेश किए, जिनसे जाहिर हुआ कि प्रतिबंध के बाद किस तरह से पड़ोसी राज्यों से होने वाली शराब की तस्करी बढ़ी है। बीते अगस्त में जब गोपालगंज में 13 लोगों की मृत्यु हुई तो राष्ट्रीय स्तर पर वह शराब त्रासदी के रूप में ही प्रसारित हुई, हालांकि जिले के डीएम और एसपी ने उसकी पुष्टि नहीं की।कई बुद्धिजीवियों ने अपने समाजशास्त्रीय अध्ययन से यह समझाने की कोशिश की कि किस तरह घटिया शराब पीने वाले मनोरंजन के अन्य साधनों के अभाव में थकान उतारने के नाम पर अपनी सारी कमाई लुटा आते हैं और हिंसा करते हैं। इससे घर-परिवार बर्बाद होते हैं। नशे की वही लत उन्हें जहरीली शराब तक ले जाती है, जिससे जिंदगियां बर्बाद होती हैं। इतना विश्लेषण महंगी शराब पीने वालों के बारे में नहीं हो सका। हां, यह जरूर कहा गया कि प्रतिबंध किसी व्यसन का इलाज नहीं कर सकता, इससे दूसरे कई अवैध रास्ते खुलने लगते हैं। यहां तक तो फिर भी गनीमत थी। लेकिन बिहार का शराबबंदी कानून अदालत तक जा पहुंचा। हाईकोर्ट में उस कानून की संवैधानिकता पर बहस हुई।

और जब मामला हाईकोर्ट से सुप्रीम कोर्ट पहुंचा तो मुद्दा यह बना कि शराब पीना किसी नागरिक का मौलिक अधिकार है या नहीं। क्या शराब पर प्रतिबंध लगाने से नागरिकों के मौलिक अधिकारों का हनन होता है? अगर शराब के पास आत्मा होती तो इस इज्जत बख्शी के लिए वह बहुत कृतज्ञ महसूस करती। नीतीश कुमार पिछले चुनाव में जिन कारणों से जीत कर आए, उनमें से एक शराबबंदी का उनका वादा भी था। वे जीते और अपना वादा निभाते हुए 1 अप्रैल 2016 से उन्होंने राज्य में शराबबंदी की घोषणा कर दी। विधान सभा से पारित होने और राज्यपाल की मंजूरी मिलने के बाद सरकार 2 अक्टूबर से उसे लागू करने जा रही थी, तब तक मामला पटना हाईकोर्ट चला गया और हाईकोर्ट ने उस बिल को असंवैधानिक बता कर खारिज कर दिया। इसके बाद राज्य सरकार ने और कड़ा कानून बनाया, जिसमें शराब पाए जाने पर घर के सभी वयस्कों की गिरफ्तारी और शराब की लत के लिए किसी इलाके पर सामूहिक जुर्माना लगाने जैसे प्रावधान रखे गए हैं। फिलहाल सुप्रीम कोर्ट ने हाईकोर्ट के उस फैसले पर स्टे लगा दिया है और बिहार में राज्य सरकार का कानून ही प्रभावी है।

मगर क्या कभी इस बात पर गौर किया है कि देश में इतनी चिंता या दुश्चिंता बिहार की शराबबंदी को ही ले कर क्यों है? देश में और भी कई राज्य और केंद्र शासित क्षेत्र हैं, जहां शराब प्रतिबंधित है। और उनके लिए जो कानून और व्यवस्था है, वह हास्यास्पदता की हद तक बेमेल है। मणिपुर में 1991 से शराबबंदी लागू है। 2002 में कुछ जिलों से प्रतिबंध हटा लिया गया, लेकिन कुछ जिलों में लागू रहा। अब जो नई सरकार आई है, उसने पिछले साल कहा कि धीरे-धीरे वह अन्य जिलों से भी प्रतिबंध हटाने पर विचार कर रही है। नगालैंड में 1989 से शराब की बिक्री और उसके सेवन पर रोक है, लेकिन एक मोटे अनुमान के अनुसार अकेले दीमापुर में शराब की पांच सौ से ज्यादा अवैध दुकानें और बार हैं। लक्षद्वीप में शराब पर पाबंदी है, लेकिन उसके एक टापू बंगाराम पर छूट है, जबकि वहां किसी तरह की आबादी नहीं है।

सवाल शराबबंदी का नहीं बल्कि सवाल हमारे मूल्यांकन के पूर्वाग्रह का है। स्पष्ट है कि एक जगह का तर्क दूसरी जगह लागू नहीं होता। सरकारें अपनी सुविधा से या अपनी लोकप्रियता के लिए ऐसे फैसले लेती हैं या ऐसी पाबंदियां हटाती हैं। उन्हें अपने ही विवेक से शासन चलाना होता है। यह तो बिहार सरकार ही बता सकती है कि शराबबंदी के बाद वहां के परिवारों के टूटने की दर या हिंसा में कितनी कमी आई है। या प्रति व्यक्ति या प्रति परिवार बचत में कितना इजाफा हुआ है। किंतु अभी तक किसी और ने इसका व्यवस्थित अध्ययन नहीं किया है। हां, राष्ट्रीय स्तर पर शराबबंदी की जितनी चर्चा हुई है, उतनी गर्मजोशी दूसरे राज्यों के मामले में नहीं दिखी।

बाल मुकुंद